तारीख़ी शहर

इतिहास को ऑब्जेक्टिव/वस्तुपरक बनाने की तमाम कोशिशों के बावजूद इतिहास स्वयं पक्षपात करता है। उसे तो शहर प्यारे हैं। इतिहास पर शहर हावी हैं। भले ही गाँव इतिहास बनाएँ पर उसे लिखता शहर है, वह शहर में लिखा जाता है, शहराती लोगों की क़लम और मानसिकता से। गाँव का इतिहास अकसर अनैतिहासिक तरह से प्रस्तुत किया जाता है। शहर गाँव को अकसर अपने से विपरीत छवि में गढ़ता है। गाँव भले ही सरल, प्राकृतिक और अधिक संवेदनशील नज़र आते हैं मगर साथ ही वे ठहरे, पिछड़े, पारंपरिक और भेदभाव करने वाले कहलाते हैं। शहर चाहे जितना पुराना हो वह आधुनिकता से फिर भी नवाज़ा जाता है — आधुनिकता की तमाम विसंगतियों के साथ।

अब बनारस को ही लीजिए। उपमहाद्वीप के संभवतः सबसे पुराने शहरों में से एक इस शहर में ग़ज़ब की जिजीविषा है — वह काशी और वाराणसी के रूपों में आज भी ज़िंदा है। पुराणकारों ने बनारस को जिन चमत्कारों से निर्मित किया कबीर की उनमें आस्था नहीं थी। मगर बनारस की महिमा कम कहाँ हुई? 19वीं-20वीं सदी का बनारस उपनिवेशवाद और भारतेन्दु के दौर से निकल कर एक ऐसे अनैतिहासिक ओरिएंटल (प्राच्य) शहर के रूप में उभरा जो पश्चिमी और भारतीय प्राच्यवादी विमर्श और कल्पना में सीमित एक eternal अर्थात समय से परे युगों-युगों का शहर नज़र आता है। बनारस बदला है, बदला होगा, मगर कहा जाता है कि 'मरना है तो वहाँ जाइये, जीना हो तो भी वहीं जाकर मरिए'।

अगर बनारस पौराणिकी के मिथक में क़ैद किया गया तो दिल्ली पुरातत्त्व के मिथक में। दिल्ली के पुराना क़िला के पुरानेपन को सिद्ध करने के लिए खुदाइयों का सहारा लेते हुए उसे पुरातत्त्व का वैज्ञानिक जामा पहनाने की तमाम कोशिशें हुई हैं। लेकिन कम लोग जानते हैं कि पुराना क़िला 1947 के बँटवारे के दर्दनाक अनुभव से कितनी गहराई से जुड़ा है। उस समय उसने सैकड़ों शरणार्थियों को पनाह दी। मगर वहाँ खुदाइयों का सिलसिला जारी रहा जो उसे प्राचीनता और आधुनिक सरकारी संरक्षण के चंगुल में फँसाता गया है। पुराना क़िला के रोज़ाना जीवन की लय उसकी प्राचीनता और राष्ट्रीयता के महावृत्तांत में कहीं खो गयी है — 'प्रमाण' चाहिए तो वहाँ होने वाला 'साउंड ऐण्ड लाइट शो' देख आइए।

बँटवारे का साया भारत-पाकिस्तान की आज़ादी पर कितना गहरा था यह अब धीरे-धीरे समझ में आ रहा है। राष्ट्रीय आंदोलन की 'विजय' के बाद उसकी यादों के साथ विस्मृति का इतिहास भी गढ़ा गया। मगर सन् सैंतालीस ने ग़ुलाम लोगों को केवल आज़ाद नहीं बनाया। पहचानें और भी बनीं — लोग स्वतंत्र होने के साथ उजड़े भी, शरणार्थी बने, अगर हिंसा के शिकार हुए तो शिकारी भी बने। और इस बनते-बिगड़ते-बिखरते-सँवरते माहौल के केन्द्र में अकसर महिलाएँ थीं। दिल्ली की 'रिफ़ूजिनों' की दास्तान ऐसे सार्थक अनुभवों से लबरेज़ है जिसमें कितनी ही औरतें साधारण को असाधारण में तब्दील करती दिखती हैं। राष्ट्रवाद की तमाम विडंबनाओं में से एक लैंगिक भी थी। 'घर' और 'बाहर' के अलग-अलग खाँचों में सिमटी महिलाओं के ज़रिए राष्ट्रवाद की संभावनाओं और सीमाओं पर हाल के वर्षों में काफ़ी बहस हुई है। मगर यह सरोकार टैगोर और गाँधी का भी कम नहीं था। हाँ, नया शोध 'घर' और 'सार्वजनिक' के बीच की लक्ष्मण रेखा को कहीं अधिक लचीला और महिलाओं द्वारा उसे लाँघने की सबॉल्टर्न प्रक्रिया के नए आयाम दर्शा रहा है।

इसी तरह बँटवारें के दंगों की हिंसा को स्थापित खलनायकों के मत्थे मढ़ने और दोषारोपण के राजनैतिक-सैद्धांतिक ढाँचे से बाहर निकालने की कोशिश आशिस नंदी जैसे विचारक करते रहे हैं। विभाजन की हिंसा के ज़िम्मेदार खिड़की से बाहर झाँकने से नहीं मिलेगें, उनके अक्स शीशे के सामने खड़े होकर भी दिख सकते हैं। अपने वर्तमान के लिए पूरी तरह से अतीत को दोषी ठहराने से काम नहीं चल सकता। उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रवाद अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभाते-निभाते कुछ थक-सा गया है। पार्थो दत्ता सभी औपनिवेशिक

तत्त्वों को ख़ारिज करने की प्रवृति के ख़तरों की ओर इशारा करते हुए गुलाम माज़ी के स्थापत्य से कुछ सीखना चाहते हैं ताकि हम आज़ाद होकर भी वही पुरानी ग़लतियाँ और अन्याय न करें। साथ ही वे यह भी मानते हैं कि औपनिवेशिक आधुनिकता के सबसे शानदार स्मारक हमारे शहर ही हैं — आज भी। तभी तो सदन झा दिल्ली की औपनिवेशिक बस्तियों की सड़कों पर टहलते-भटकते हैं — समय की धूल फाँकते हुए। उनके कलाइडोस्कोप में राजा तोमर, 1857, चंद्रावल के गूजर, कॉरोनेशन पार्क, किंग्सवे कैंप, हरिजनों के सेवक, मिशनरी, रेडियोकर्मी, मुक्तिबोध और चाऊमीन बेचती और फ़ोटोकॉपी करती दुकानें — सब मौजूद हैं। क्यों? क्योंकि, कहते हैं कि शहर में साँप की आँखों का आकर्षण होता है — जो आता है, बस इसी का होकर रह जाता है। सर्पदंश के भय, सीने में जलन और अकेलेपन की शिकायत के बावजूद शहर वो लड्डू है जिसे खाकर कौन पछताना नहीं चाहता?

सचमुच क्या भारतीय शहर अपनी पौराणिकता, अपनी औपनिवेशिकता और अपनी आधुनिकता से मुँह चुरा सकते हैं?

रविकांत + संजय शर्मा

शहरे आशोब

(आगरा शहर की दुर्दशा)

सर्राफ़, बनिए, जौहरी और सेठ, साहूकार
देते थे सबको नक़्द, सो खाते हैं अब उधार
बाज़ार में उड़े है पड़ी ख़ाक बे शुमार
बैठे है यूं दुकानों में अपनी दुकानदार
जैसे कि चोर बैठे हों क़ैदी क़तार बंद...

सौदागरों को सूद, न व्यौपारी को फ़लाह
बज्ज़ाज़ को है नफ़ा न पनसारी को फ़लाह
दल्लाल को है याफ़्त, न बाज़ारी को फ़लाह
दुखिया को फ़ायदा न पिसनहारी को फ़लाह
यां तक हुआ है आन के लोगों का कार बंद...

इस शहर के फ़क़ीर भिखारी जो है तबाह
जिस घर पे जा-जा सवाल वह करते है ख़्वाह मख़्वाह
भूखे है कुछ भिजाइयो बाबा ख़ुदा की राह
वां से सदा यह आती है 'फिर मांगो' जब तो आह
करते है होंट अपने वह हो शर्म सार बंद...

नज़ीर अकबराबादी (1735-1830)
***नज़ीर ग्रंथावली*, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1992**